अवलोकन



श्री दुर्गाशंकरजी की नयी पुस्तक विचारप्रधान है और उस में विवेक-बुद्धि का प्रयोग काफी मात्रा में किया गया है। लेखक ने अपने प्रौढ़ प्रश्नों को लेकर विश्लेष्णात्मक गति से आगे बढ़ना आरम्भ किया है। स्वच्छन्दवाद के असली कारण बताते हुए; मानव की गहनतम-गूढ़-गम्भीर समस्याओं का विवेचन करके उन्होंने यह निष्कर्श निकाला है कि इस तरह की मनोभावना स्वाभाविक है। प्रकृति-विरोध, अव्यवस्था और चिन्तनीय परिस्थितियाँ मानव को उद्वेलित किये हुए हैं। कृत्रिमता और प्रकृति से प्रतिकूलता ही वर्तमान स्वच्छन्दवाद की परिचायक है। 'मानव' शीर्षक परिच्छेद में लेखक ने ऐतिहासिक निरूपण से मातृयुग, जनयुग, पितृयुग, सामन्तयुग, भूपतियुग, पूँजीपतियुग, साम्यवाद आदि के संगठन की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है और उसी के बाद शक्ति-प्रदर्शन की मनोवृत्तियों का भी विवेचन किया है। बुद्धि-जन्य मज़हब को शक्ति-संगठन में सहायक बताते हुए उन्होंने कहा है कि यह शक्ति का अनुचर है। आगे के परिच्छेदों में भी जटिल-विचारों को प्रत्यक्ष लिखने में लेखक ने सफलता पायी है। 'प्रकृति के विधान में' पढ़कर पाठक मानव का स्वरूप देख सकता है और नारी की प्रधानता का अनुभव कर सकता है। पाँचवाँ परिच्छेद इस दृष्टि से नारी की शक्तियों को-समन्वयकारी,

शान्तिसमर्थक प्रवृत्तियों को प्रकट करता है। मानव के सामाजिक स्तर पर नारी का उच्च स्थान है—उसी का महत्व है—उसी की श्रेष्ठता है। इसीलिए तो लेखक कहता भी है:—'नारी-हृदय में स्थित मानव-धर्म की कलियाँ विकास पाकर सारे मानव-समाज को मानव-धर्म की सौरभ से भर देंगी; मानव-समाज मानव-धर्म की सौरभ से महक उठेगा।'

पुस्तक विचारों को परिष्कृत करने, विवेक को जाग्रत करने और साधना के पथ में भ्रमण करने में बड़ी सहायक सिद्ध हो सकेगी। प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में ही सूक्ष्म-मन्त्र के रूप में विचारों का सार दिया गया है। स्वच्छन्दवाद की धाराओं आदि के वर्णन के बाद लेखक आर्थिक-आन्दोलन तथा बौद्धिक-स्वच्छन्दता की दिशा में बढ़ जाता है। इसके लिए यह जरूरी बताया गया है कि वास्तविकता का दर्शन किया जाय तथा रचनात्मक-कार्य की सफलता के हेतु 'केन्द्र से विस्तार' किया जाय। मानव के स्तर को ऊँचे उठाने के लिए लेखक का यही सुझाव भी है और उसका आग्रह है कि समानता एवं विकास के हेतु नारी को ससम्मान अध्यक्षता के आसन पर आरूढ़ किया जाय।

पुस्तक के विचार, शैली और विवेचनात्मक सुझाव ही लेखक की सफलता को सिद्ध करते हैं।

विश्वमित्र कार्यालय,
फोर्ट बम्बई.

करुणाशङ्कर पण्ड्या
(सम्पादक विश्वमित्र)

मेरे विचार



मैंने 'स्वच्छन्दवाद' पुस्तक पढ़ी। इन्दौर के एकान्त-प्रिय विचारक श्री दुर्गाशंकरजी ने काफी अध्ययन और परिश्रम के बाद इसे लिखा है। विषय की वैज्ञानिक बुनियाद होने से वह पुख्ता है और उद्देश्य उस के नाम से ही जाहिर है।

मानवसमाज और खासकर चालीस करोड़ भारतीयों की मौजूदह परेशानियों का मूल कारण लेखक की नजर में मजहब और समाज के नाम पर मौजूदह दीमागी बन्दिशे हैं। इसीलिये लेखक व्यक्तियों को स्वच्छन्दता से सोचने की सलाह देता है। लेखक ने नारी की स्वतन्त्रता व उसके अधिकारों का काफी गंभीरता और वैज्ञानिक तरीके से उल्लेख किया है। विषय नया है और अभी इसपर काफी सोचा और लिखा जा सकता है।

इस में शक नहीं कि लेखक के कथनानुसार शक्ति की दौड़ में बाजी जीतने की गरज़ से इन्सान अपनी सारी अक्ल उसी में खर्च करते हुए अपने ही हाथों तबाहियों का शिकार हुआ है और हो रहा है। और आज वह उन तरीके व रवाजों का गुलाम बन गया है। इन तरीकों और रवाजों ने इन्सान के दीमाग़ पर इतना अधिकार जमा रखा है कि वह उन से बाहर निकलकर वास्तविकता को देखना, विचार करना और समझना ही नहीं चाहता।

समाज और मजहब के नियम बहुत पुराने हैं। जब
उनका निर्माण हुआ वे उस जमाने में मनुष्य के अनुकूल रहे होंगे
लेकिन बाद में उनका स्वार्थ के लिए स्तेमाल किया गया। पुरोहि
या आलिम के नाम से इन्सान को अपनी मर्जी के मुताबि
पाबन्दियों के लिए खींचा जाता रहा। जब कभी इन्सान ने उस
खिलाफ बगावत करने की हिम्मत की उसे अधर्म और कुफ्र कह
सजाएँ दी गईं। सुकरात और मन्सूर जैसे लोग इसका शिकार हु
सत्ताधारियों ने मजहब व समाज के नाम पर हमेशा इन्सानों
अपने हित के लिए तबाह किया। इसीलिए भय और खौफ
वजह से आज हमारा समाज बुद्धिहीन हो गया है व उसके सोच
के तरीके 'पतित तरीके' कहे जासकते हैं। आज भी मानवसम
मजहब, धर्म, संस्कृति, परंपरागत रवाजों या अन्य नये-पुराने अ
विश्वासों के भ्रम में फँसकर भयंकर गुलामी का शिकार है।
एक दलदल से निकलना चाहता है तो अपनी पतित अक्ल के ह
दूसरी दलदल में फँस जाता है। उसकी समझ में नहीं आता
वह वहम की पूजा में प्रत्यक्ष इन्सानियत और आजादी को गुल
और तबाही के अर्पण कर रहा है।

फ्रान्स के क्रान्तिकारी नेता रोसो ने सन् १७५०
Accdomy of Dijon के ऐलान पर उस जमाने के विद्वानों
[illegible] एक दी एक इनामी लेकिन क्रान्तिकारी लेख के द्व
[illegible] किया। परिणाम स्वरूप फ्रान्स में सामान्तशाही के वि

राजनीतिज्ञ स्टुवर्टमिल ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर काफी जोर दिया। उसके बाद इग्लेंड की समाज और हुकूमत में उन्नति के झरने खुल गये। हमारा देश इस लिहाज से काफी गिरा हुआ है। हमारी परंपरागत दीमागी गुलामी इतनी बढ़ गई है कि बड़े विद्वान कहे जाने वाले ही सबसे अधिक गुमराह और बुद्धिहीन बन गये हैं। ऐसे जमाने में यदि इस पुस्तिका से यह आशा करूँ तो अत्योक्ति नहीं होगी। ऐसे जमाने में नौजवानों को 'स्वच्छन्दवाद' के मसले पर गौर करना जरूरी है। ऐसे लोगों को चाहिये कि वे और सोचें, और इसपर मुस्तकिल रचनाओं का सिलसिला जारी करें।

क्यों कि मैं नहीं चाहता कि इन्सान जानवरों जैसा बने; बल्कि यह जरूर चाहता हूँ कि इन्सान जानवरों की दशा से निकलकर सही मानी में इन्सान बने। मानवधर्म के नाम से अधर्म का और समाज के नाम से मूर्खता का शिकार न बने।

सैयद हामिदअली
प्रधान मंत्री मध्यभारत प्रादेशिक
देशीराज्य लोकपरिषद.
प्रेसीडेन्ट इन्दौर कांग्रेस कमेटी.
मंत्री सेन्ट्रल इंडिया जर्नलिस्ट कान्फ्रेन्स.

१०-७-४७

भूमिका



प्रकृति के नियमों की जानकारी को विज्ञान (साइन्स) कहते हैं और स्वच्छन्दता है प्राकृतिक व्यवस्था का एक पहलू। स्वच्छन्दता को समझना-जानना कोई कठिन काम नहीं; वनस्पति, पशु-पक्षी आदि को देखकर इसके बारे में सरलता से बहुत कुछ जाना जा सकता है। किसी की स्वच्छन्दता का अपहरण होने पर उसकी प्रकृति बदल जाती है और धीरे-धीरे उसमें बुराई पैदा होने लगती है। स्वच्छन्दता ही एक मात्र है जिसमें प्रत्येक के गुण-धर्म का विकास देखने में आता है।

मनुष्य के गुण-धर्म (मनुष्यत्व) का विकास भी स्वच्छन्द वातावरण में ही सम्भव हो सकता है। और यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि मनुष्य पशु नहीं है; वह पागल कुत्ता नहीं है जो अकारण ही सब को काटता फिरेगा? हाँ वह आज अवश्य पागल कुत्ते के समान है; उसे पालतू बनाकर कष्ट देने के कारण उसकी प्रकृति बदल गई है—वह खीज उठा है। मनुष्य अनुकूल परिस्थिति में जितना अच्छा बन सकता है, प्रतिकूल में उतना बुरा भी। मनुष्यों में कितनी ही अच्छाइयाँ हैं; किन्तु उसे सताया जायगा—उसके जीवन-निर्वाह का आधार ही छीना जायगा तो वह बहुत

स्वच्छन्दता प्राकृतिक-व्यवस्था का पहला और प्रमुख स्तम्भ है तथा स्वच्छन्दवाद में शेष सहायक-स्तम्भ भी सम्मिलित हैं अतएव स्वच्छन्दवाद प्राकृतिक होने से वैज्ञानिक है; इसलिए इसकी सत्यता और सफलता पर अविश्वास की गुंजाइश नहीं। हाँ, विषय के विश्लेषण में कमजोरी हो सकती है किन्तु इससे उसकी सचाई पर किसी कदर आँच नहीं आ सकती।

पुस्तक में यह प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है कि मानव-संसार को सृजन करने का श्रेय जननित्व को है। जननित्व में मातृत्व अर्थात् मातृधर्म—मानवता है और मातृत्व की अधिकारिणी है नारी। इसलिये मानव-समाज को सृजन करने में नारी जाति का विशेष हाथ रहा है। मानव-समाज का केन्द्र (मूल) नारी का विकसित रूप मातृत्व ही है। यही केन्द्रीय-तत्व मानव-समाज को विकासात्मक-परिवर्तन की ओर गतिमान करता है और कर सकता है—मूल को ही सींचने से मानव-समाज का पौधा लहलहा सकता है।

यदि पुरुषवर्ग द्वारा नारी को गुलाम बनाकर—उसका अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये उपयोग न किया गया होता, यदि नारी उसके यथोचित स्थान मातृत्व पर कायम रही होती—उसे पुरुष-वर्ग ने च्युत न कर दी होती; तो निस्सन्देह आज का मानव-जगत मातृधर्म—मानवता से परिपूर्ण होता; मानव-जगत का कुछ निराला और खुशनुमा ही रंग होता !

नारी आज तक गुलाम—पुरुष-वर्ग के बन्धन में बँधी हुई रही; इसलिये वह मानव की वंश-वृद्धि के अलावा अन्य सामाजिक कार्य करने में असमर्थ रही—विशेष रूप से नहीं कर सकी। किंतु सृजनत्व (जननित्व=मातृत्व) केवल नारी जाति की ही वसीहत नहीं थी; पुरुष वर्ग में से वैज्ञानिकों, कलाकारों और मानवता के उपासकों आदि ने मानव-संसार को सृजन करके मातृत्व का आसन प्राप्त किया। यदि इन लोगों को ही पूरे अधिकार प्राप्त होते—शासक-वर्ग सब का अधिकार हड़प कर सर्वेसर्वा—एकाधिकारी न बन बैठा होता, यदि शासक-वर्ग ने मानव-समाज की स्वाभाविक-गति को पूरी ताकत से न रोका होता, तो भी मानव-जगत का रंग कुछ निराला और खुशनुमा ही होता!

शासकों का कार्य हमेशा से ही विनाशात्मक रहा है। यदि मानव संसार में सृजनात्मक कार्य का समावेश न हुआ होता; तो मानव-वंश शायद अब तक मटिया-मेट हो चुका होता!

शासक, फिर वह किसी भी श्रेणी का हो—कुटुम्ब का चाहे संसार का, वास्तविक हो या काल्पनिक, दृष्टव्य हो या अदृश्य मानव की स्वाभाविक-गति को रोकता ही है। गति और परिव शील—समय, युग, संसार, नीति, व्यवस्था सभी को शासक उ की वैसी देखना चाहता है और तभी बुराइयों—अनैतिकता, अमान बर्बरता का जन्म होता है। कूटनीति अर्थात् छल, कपट औ तरह से स्वार्थपूर्ति करने का नुस्खा शासकों का ही तो आवि

है। और तारीफ तो यह कि ऐसी ही मनोवृत्ति का मानव-समाज पर एकाधिकार रहने से यह सब सभ्यता और तरक्की में शुमार कर लिया गया है।

तात्पर्य यह कि सृजनत्व को प्रधानता और स्वच्छन्दता दिये बगैर मानव-समाज का विकास असम्भव है। नीति-निपुण (?) कानूनबाजों और तर्कबाजों के जमघट ने न मानव-समाज की कोई भलाई की है और न इनसे कुछ होने की सम्भावना ही है। मानव-समाज का सच्चा—वास्तविक विकास तभी देखा जा सकता है, जब कि सृजनत्व अर्थात् नारी, वैज्ञानिकों और कलाकारों को उन्मुक्त रूप से काम करने का मौका दिया जाय; उनकी प्रधानता स्वीकार करली जाय और उन्हें मानव-समाज पर अपने प्रयोग करने की पूरी सहूलियत दे दी जाय।

आज वाद-विवादों का सागर उमड़ा हुआ है। ऐसे तूफान में, ऐसे जमघट में जहाँ ताकत का बोलबाला है—मेरा यह दुस्साहस ही है। जो भी 'वाद' शब्द से मेरी कोई विशेष रुचि नहीं है, न कोई मत या वाद चलाने की मेरी मंशा ही है; तो भी स्वच्छन्द के साथ वाद इसलिये जोड़ना पड़ा कि मेरे सामने अनेकों शब्द आये मगर मेरी कसौटी पर यही खरा उतरा।

जो कुछ है; विज्ञ-पाठकों के सामने पेश करता हूँ और निवेदन करता हूँ कि वे निस्संकोच अपनी सम्मतियाँ और शंकाएँ भेजने की कृपा करें।

दुर्गाशंकर
१५-८-४७



अनुक्रमणिका





स्वच्छन्दवाद

पुरुष का धर्म है,

श्रम

और

पराक्रम

स्त्री का धर्म है,

व्यवस्था

और

विकास

☆

१

स्वच्छन्दवाद क्यों?

वर्तमान व्यवस्था में मनुष्य पिंजड़े में बंद पक्षी की तरह तड़फड़ाता है-छटपटाता है, मनुष्य कैद है कानूनी साँकचों में!

क—आधुनिक मानव-व्यवस्था में प्रकृति विरोध

बीसवीं सदी मानव-इतिहास का एक महान क्रान्तिकारी युग है। इस युग ने मानव के विचार-जगत् में जैसा तहल्का मचाया है, वैसा गत-युग में हुआ था या नहीं; इसमें सन्देह है। चारों ओर उथल-पुथल मची हुई है। मनुष्य के लिये एक भी आधार ऐसा नहीं बचा है, जिसे पकड़ कर वह खड़ा हो सके। ईश्वर, धर्म, शासनतंत्र, सामाजिक-व्यवस्था आदि के प्रति मनुष्य में सन्देह और अविश्वास उत्पन्न हो गये हैं। आज के मनुष्य में असन्तोष के लक्षण जाग पड़े हैं; कहीं भी वह सन्तोष की श्वाँस नहीं ले रहा है।—वह मृग-तृष्णा की भांति सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता को खोज रहा है। परतंत्रता की कँटीली-झाड़ी चारों ओर सघन

एक ओर थैलियों का वजन बढ़ाया जा रहा है, दूसरी ओर मानव अनाज के दाने के बगैर तड़प रहा है; दम तोड़ रहा है। मनुष्यत्व और नारित्व दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं; चाँदी के टुकड़ों से खरीदे जा रहे हैं। आज समृद्ध और सम्पन्न संसार की छाती पर दरिद्रता का महा-ताण्डव हो रहा है। जिसके पास धन है वह धर्मात्मा है; जिसके हाथ में तलवार है वह सब का गुरु है नेता (!) है! जो छल, कपट और मक्कारी करता है वह गुणवान है!—आज के संसार का आदर्श ही जर, ताकत और मक्कारी है। मानव, मानव को बगुले की तरह उदरस्थ करने के विचार में संलग्न है। आज के सभ्य-संसार की अक्ल इतनी बढ़ गई है, वह इतना चालाक और होशियार हो गया है, उसने अपनी शक्ति का संगठन इतना दृढ़ बना लिया है—कि वह लगातार किसी देश को सैकड़ों वर्षों तक लूट सकता है, लाखों

मनुष्यों की हत्याएँ कर सकता है और करोड़ों को दास बना सकता है। सभ्य संसार के कुछ ताकतवर और अक्लवर लोग लाखों की तादाद में एकत्रित होकर हत्याकाण्ड मचाते हैं और इतना बड़ा डाका डालते हैं कि संसार के इतिहास को छन्नी से छानने पर भी जोड़ का उदाहरण मिलना असम्भव है। मानव-धर्म और मानव-स्वभाव तो अन्य प्राणियों से अधिक उन्नत है!

आज का मनुष्य हर कदम पर गुलामी और बन्धन महसूस कर रहा है–निराश, बेचैन, परेशान और मजबूरसा कुछ खोज रहा है। परतन्त्रता की कँटीली झाड़ी चारों ओर फैली हुई दिखाई देती है—मानव विध्वंस करने को दौड़ पड़ता है!–परिणाम होता है; लड़ाई, झगड़े, युद्ध, भयंकर हत्याकाण्ड!! जब अन्य प्रत्येक प्राणी निर्द्वन्द-सुव्यवस्थित, स्वच्छन्द-सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं; तब मानव जीवन इतना द्वन्द और हाहाकार मय क्यों?—मानव-मस्तिष्क तो अन्य प्राणियों से अधिक विकसित है!

प्रकृतिदत्त; स्वच्छन्दता और उसके पदार्थों का उपभोग प्राणी-मात्र अबाध रूप से कर रहे हैं, परन्तु मनुष्य (?)–वह आज किसी का मोहताज है; अधिकांश में वह वंचित है। प्रकृति की देनों को उपभोग करने का क्या मनुष्य को अधिकार नहीं है या बेबसी और मोहताजी ही मानव-जीवन है!– मनुष्य तो श्रेष्ठ-प्राणी है!

आज का मनुष्य जाग गया है।—वह विकास-मार्ग के उस स्थल पर खड़ा है, जहाँ से उसके लक्ष्य-स्थान की अस्पष्ट मूर्ति

मनुष्य के मस्तिष्क में आज प्रश्न घुमड़ रहे हैं—इतनी परतन्त्रता क्यों?—कुटुम्ब का बन्धन, मित्रों का बन्धन; फि पड़ोसियों का, जाति का, मजहब का, समाज का, कानून का, राज्य का, देश का.......यहाँ तक कि सारा संसार बन्धन-मय प्रतीत होता है! जिधर देखिये; जिधर कदम रखिये—गुलामी... बन्धन...., परतन्त्रता...! पग-पग पर स्वतन्त्रता की हत्या हो रही है!! यह सब क्यों?—मनुष्य अन्य प्राणियों के समान स्वच्छन्द-स्वतन्त्र क्यों नहीं?

मनुष्य के कदम बढ़ाते ही शोर सुनाई देता है—अनाचा और दुराचार फैलेंगे! व्यवस्था बिगड़ जायगी! धर्म डूब जायगा सभ्यता मर जायगी और शीघ्र ही मनुष्य जाति विनाश के गर् की ओर दौड़ती नजर आयगी!!

मनुष्य कुछ रुक कर क्षण भर मौन हो सोचता है; फि चिल्ला उठता है—क्या, जबरन किसी विधान में बँधा हुआ मनु

मनुष्य है; स्वतन्त्र मनुष्य की कोई हस्ती नहीं ? एक दूसरे दबोचकर स्वार्थ-सिद्धि करते रहने से ही क्या मनुष्य और की सभ्यता-व्यवस्था जीवित रहेगी ? मनुष्य को बेबस बनाकर; की इज्जत-आबरू और मेहनत के व्यापार से ही क्या समाज आचार-विचार और सदाचार की रक्षा हो सकेगी ?

अन्य प्राणी आदि काल से उन्मुक्त-स्वच्छन्द जीवन व्यतीत रहे हैं। उनकी व्यवस्था क्यों नहीं बिगड़ी, वे अभी तक क्यों न्दा हैं—मर क्यों नहीं गये ? मनुष्य तो अन्य प्राणियों से है; फिर उसकी व्यवस्था इतनी दूषित क्यों, फिर उसके लिये ने लड़ाई-झगड़े, युद्ध-परेशानियाँ और बन्धन-शासन क्यों ? क्यों दिन रात हाहाकार मचाये हुए है ? प्रकृति की महान और ापक देन स्वच्छन्दता और संसार के पदार्थों से वह वंचित क्यों ? क्या मानव-जीवन, मानव-स्वभाव और मानव-स्वत्व पशु-क्षियों से भी हीन हैं ?

इस प्रकार मनुष्य जो अभाव अनुभव कर रहा है और सकी पूर्ति के लिये आज मनुष्य की जो कुछ जरूरत या माँग है, उसे हम स्वच्छन्दवाद की संज्ञा देने की शिफारिश करेंगे। क्योंकि; मनुष्य स्वच्छन्द (उन्मुक्त) जीवन चाहता है। मनुष्य चाहता है कि वह बलात् किसी भी बन्धन में बँधा हुआ नहीं रहे, किसी के दबाव में दबा हुआ नहीं रहे; न वह किसी का मोहताज ही रहे। अस्तु मनुष्य की यह एक स्वाभाविक माँग है।

ख—स्वच्छन्दवाद प्राकृतिक है

स्वच्छन्दवाद का मूल स्वच्छन्दता है। स्वच्छन्दता से व्यक्ति की स्वच्छन्दता का बोध होता है, अर्थात् स्वच्छन्द शब्द विशेष मानव (नर-नारी) की स्वच्छन्दता का द्योतक है। स्वच्छन्द पर्यायवाची शब्द हैं—उन्मुक्त, अनियन्त्रित, निरंकुश, स्व अशासित इत्यादि। नर-नारी की स्वच्छन्दता सुनकर शायद प्रगतिवादी सुधारक भी चौंक उठेंगे और उनका चौंक उठना भी स्वाभाविक। कारण, आज का वातावरण ही . । अंकुशमय है; स्वामित्व और दासत्व के वातावरण में रहते पीढ़ि गुजर चुकी हैं—पीढ़ी-दर-पीढ़ी से वही शिक्षा-दीक्षा चली आ रही है। आज तो स्वामित्व और दासत्व के व्यापार का विकास उ. पूर्णावस्था में विद्यमान है एवं इस व्यापार को सभ्यता-संस्कृति शुमार कर लिया गया है। यदि चतुराई से पाला गया प पिंजड़े से प्यार करने लगे एवं उसी के इर्द-गिर्द घूमने प्रसन्नता और सन्तोष अनुभव करने लगे; तो क्या यह आश्चर्य बात है? आधुनिक स्वतन्त्रता और सभ्यता ऐसी ही न की उपज है; इसी से आज वह इतनी दूषित हो गई है। जि प्रकार आज की सभ्यता और व्यवस्था द्वारा मानव-तृष्णा पूर्ति नहीं हो रही है, वही दशा स्वतन्त्रता की भी है। आ स्वतंत्रता के अनेकों रूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं। फल-स्वरूप ह कभी इंग्लैण्ड-अमेरिका, कभी जर्मन-जापान और कभी रूस शासन-शैली को आदर्श-स्वतंत्रता मानकर उस ओर लालायित द से देखते हैं। इस पेशोपेश के कारण आज स्वतंत्रता के पह

शुद्ध, सच्ची या पूर्ण शब्द जोड़ा जाता है और शुद्ध-अशुद्ध घी की तरह स्वतंत्रता की भी परख की जाती है। इसीलिये आज हम नये-नये प्रकार से गढ़ी गई स्वतंत्रता की मूर्तियाँ देख रहे हैं। क्या प्रत्येक के उद्देश्य में अनन्त, असीम, और अशासित मानव-संसार को शक्ति द्वारा पूर्ण, सीमित और शासित बनाने का दुराग्रह नहीं है ? क्षण-क्षण परिवर्तित और गतिशील संसार को आज के सम्प्रदाय, वाद और शासनतन्त्र क्या स्थायी रूप देने का बलात् प्रयत्न नहीं कर रहे हैं ? प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सत्ता को मानव-समाज पर आरोपित करना क्या गति और परिवर्तन को बाँधने का असफल-प्रयत्न नहीं है ?

जिस प्रकार स्वतन्त्रता पर यह आरोप नहीं लगाया जासकता कि आज के स्वतन्त्र देश या व्यक्ति अथवा वे देश जो आज परतन्त्र हैं—स्वतन्त्र हो जाने पर चोरी, डकैती, हत्या आदि दुराचार करेंगे; जो भी आज की स्वतन्त्रता द्वारा उक्त कार्य ही कार्यान्वित हो रहे हैं। तो फिर स्वच्छन्दता पर यह आरोप लगाना कहाँ तक उचित होगा कि उसके द्वारा अनाचार-दुराचार फैलेंगे ? वास्तव में सच्ची-स्वतन्त्रता की एक ही मूर्ति है और उसका एक ही रूप है; जिसे स्वयं प्रकृति ने प्रसव किया है, जिसमें वादविवाद की जरूरत नहीं, जो प्रयोगात्मक रूप से सिद्ध है और जिसका प्रकृति से सीधा सम्बन्ध है। प्रकृति की उसी व्यापक व्यवस्था या देन को आज हम स्वच्छन्दवाद के नाम से सम्बोधन करना आरम्भ करते हैं।

अलग तत्व माना गया है, तो भी स्वच्छन्दवाद को इस दृष्टिकोण से कोई विरोध नहीं।—किन्तु जब हम मूल में ही गति-परिवर्तन के रूप में चेतना देखते हैं, तो विकास पाकर क्या उनमें विशेष चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती ?

प्राणियों में गुण-धर्म के सिवाय जीवन (वंश) वृद्धि की योग्यता है।—विकास के अनुसार क्रमशः उनमें जीवन-रक्षा की क्षमता तथा जीवन-रक्षा के लिये पदार्थों के उपभोग और उपयोग की क्षमता बढ़ती जाती है। मनुष्य में उसके विकास के साथ साथ यह क्षमता उत्कट रूप से देखने में आती है।

इन सभी का अस्तित्व हमारा संसार है; और जो प्रत्येक में अपने-अपने गुण-धर्म विद्यमान हैं, वे ही प्रकृति के नियम कहे जाते हैं। कहावत है कि—'खुदा के हुक्म बगैर एक पत्ता भी नहीं हिलता' मानो जर्रे-जर्रे में प्रकृति के नियम व्याप्त हैं। यह बात सच है कि सारा संसार प्रकृति के नियमों से परिचालित है; मगर इस परिचालन-कार्य को वस्तु या व्यक्ति पर प्रकृति का नियन्त्रण नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक स्वच्छन्द हैं, अपने-अपने गुण-धर्म के अनुसार कर्म में लगे हुए हैं और नियमों का इतने स्वाभाविक-रूप से पालन कर रहे हैं कि यदि नियन्त्रण कहा भी जाय तो प्रत्येक स्वनियन्त्रित हैं;—जिसे प्रत्यक्षता और यथार्थता के लिहाज से नियन्त्रण कहना असम्भव है। अगर प्रकृति का नियन्त्रण स्वीकार कर लिया जाय तो प्रत्येक के गुण-धर्म (उनके नियमों) को अपरिवर्तनीय भी कहना पड़ेगा। क्या, प्रकृति के नियम अपरिवर्तनीय है ? नहीं; गति और परिवर्तन तो प्रत्येक मे

दुष्परिणाम भी भुगतना पड़ता है। किन्तु हवा-पानी के घनत्व के हिसाब की सचाई जान लेने पर प्रयोग और निर्माण के उप-रान्त, मनुष्य वायु-मण्डल में पक्षियों की तरह सैर भी करता है और अनन्त जल-राशि पर आवागमन भी करता है। आज हम जितने आविष्कार देखते हैं—प्रकृति के नियमों (पदार्थों के गुण-धर्म) के किसी भी पहलू की सचाई की जानकारी के आधार पर ही वे स्थित और सफल हैं। यदि कोई आहार, विहार, निद्रा, शौच्यादि शरीर सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों से प्रतिकूल आचरण करता है तो निश्चय ही वह उचित दण्ड पाता है—उसे प्रकृति विरोधी आचरण का दुष्परिणाम भुगतना ही पड़ता है।

प्रकृति के किसी नियम से प्रतिकूल कोई कार्य सफल नहीं हो सकता।—यदि कोई कार्य प्रतिकूल किया भी गया तो प्रकृति उस कर्ता को उचित दण्ड देती है; वह कर्ता अपने कृत्य का दुष्परिणाम भुगतता है। क्योंकि प्रकृति के नियमों का मूला-धार सत्य है। वह सत्य जिसका रूप समान है; जो न मिटा है न प्रलय के उपरान्त भी मिटेगा—जो अजर-अमर है। प्रकृति से विरोध करना सत्य से विरोध करना है। सत्य का विरोध-कर्ता न सफल है न निरापद।

कोई भी प्राणी अपने धर्म के विरुद्ध कर्म नहीं करते। गज गजत्व का, सिंह सिंहत्व का, हंस हंसत्व का या मीन मीनत्व का त्याग नहीं करते, बल्कि नहीं कर सकते। किन्तु मनुष्य मनुष्यत्व का त्याग कर सकता है; मनुष्य प्रकृति-विरोधी आचरण कर सकता है। अन्य प्राणी अपने मस्तिष्क का इतना विकास

कृत्रिम या स्वनिर्मित परिस्थिति ।

प्राकृतिक परिस्थिति में प्रकृति के दो रूप हैं — दोस्ती और दुश्मनी। दोस्ती उस जगह है, जहाँ आवश्यकता की पूर्ति के लिये पदार्थ सुलभ हैं। दुश्मनी उस जगह है, जहाँ पदार्थ दुर्लभ हैं। मनुष्य अपनी बड़ी-बड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है; मगर बिना परिस्थितियों का हल किये और बिना प्रकृति के नियमों का उद्घाटन किये नहीं कर सकता।

कृत्रिम परिस्थिति में मित्रता कैसी? क्योंकि वह तो प्रकृति-विरोधी कार्य के फलस्वरूप ही पैदा होती है। मनुष्य अपनी तर्क-बुद्धि से उसको जितना हल करने का प्रयत्न करता है, उतना ही फँसता जाता है। इस प्रकार मनुष्य को प्रकृति-विरोधी कार्य के लिये निरन्तर दुष्परिणाम या दण्ड भुगतना पड़ता है। उसका वास्तविक हल तभी होता है, जब मनुष्य उस कार्य को त्याग कर प्रकृति के नियमानुसार कर्म में प्रवृत्त होता है। तदन रूप प्राकृतिक परिस्थितियों के हल से विकासात्मक और कृत्रिम

ह्रासात्मक गति-परिवर्तन होता रहता है। यदि हम मिट्टी के ढेले को पानी में डाल दें और फिर पानी में ही उसका चाहे जितना स्थानान्तर करते रहें, लेकिन वह गलता ही जायगा। ढेले को पानी से बाहर रखने पर ही उसकी वास्तविक रक्षा हो सकती है और उसमें वास्तविक मजबूती आ सकती है। अर्थात् गणित के प्रश्न में यदि प्रारम्भ में ही जरासी गल्ती हो जाय, तो आगे की सभी संख्याएँ अधिकाधिक गल्त होती जाती हैं और उत्तर कभी सही नहीं बैठता। उसी प्रकार एक गल्ती (प्रकृति-विरोधी आचरण) के उपरान्त उसी का हल करते रहने और उसी में सही उत्तर खोजते रहने से दुष्परिणामों की भयंकरता भी बढ़ती जाती है—वह गति और परिवर्तन ह्रासात्मक होता है। मानव इतिहास भी कुछ इसी ढंग का है।

प्राणी-समाज की प्राकृतिक-व्यवस्था के नियम-समूह को स्वच्छन्दवाद कहते हैं। उस नियम-समूह की पहली और खास धारा स्वच्छन्दता है।

निश्चय ही मानव अन्य प्राणियों के समान स्वच्छन्द नहीं है। क्यों न तब इस प्रकृति-विरोध के कारण ही आज मानव-समाज की व्यवस्था इतनी दूषित हो गई हो!

३

मानव

जिस प्रकार हम किसी अपने प्रियजन के मरने पर उसे पुनः जीवित देखना चाहते हैं—उसे गले लगाये रखना चाहते हैं, परंतु गाड़ना या जलाना ही पड़ता है;—किन्तु हम मृत विचारों को अभी तक गले लगाये हुए हैं; उनकी सड़ाँद दिनों दिन बढ़ती जा रही है, मगर मोह-वश उन्हें दफ़नाना नहीं चाहते।

क—मानव का संक्षिप्त इतिहास

इतिहासज्ञों का कथन है कि किसी जमाने में मनुष्य निरा जंगली था; वह बिखरा-बिखरा सा रहता था और अव्यवस्थित भी था। भोजन की प्राप्ति के लिये दिन भर फल-पत्ते खोज-खोज कर खाता; मौका पाकर शिकार करता और अपनी रक्षा के लिये लुकता-छिपता रहता था।

मातृयुग—मनुष्य का पहला संगठन हुआ; उसने परिवार जैसे एक छोटे से दल का संगठन किया। उस दल में नर-नारी

थे, किन्तु कोई सुधरे हुए सम्बन्ध का सूत्रपात नहीं हुआ था— इसे इतिहास में 'यूथ-विवाह' कहते हैं। यह दल माता की अध्यक्षता में अपनी व्यवस्था का कार्य करता था। माता पथ-प्रदर्शिका थी, व्यवस्थापिका थी; और उसका अनुगमन पूरा दल स्वाभाविक रूप से करता था। उन्होंने लकड़ी-पत्थर के हथियार भी बना लिये थे, जिससे शिकार प्राप्त करने में सुविधा हो गई थी। वे ठण्ड से बचने के लिये चमड़े का उपयोग भी करते थे और आग भी उन्हें प्राप्त हो गई थी; जिसे वे बड़ी हिफ़ाजत से कायम रखते थे। इस युग का जीवन खानाबदोशों जैसा था। खाद्य सामग्री की कमी महसूस होने पर उनका काफ़ला दूसरे स्थान की खोज कूच करता था। इस सिलसिले में कभी दूसरे परिवार से भिड़न्त भी हो जाती थी। भिड़न्त होने का कारण इतना ही था कि एक ही क्षेत्र में दो दल निर्वाह करना चाहते थे। निरे जंगली होने कारण वे शक्ति को ही एक मात्र आधार समझते थे। उन्हें यह ज्ञान नहीं था कि पृथ्वी बहुत बड़ी है और आगे बढ़कर भी जीवन-निर्वाह हो सकता है; इससे कमजोर दल को कुछ रक्तपात के बाद मजबूरन आगे बढ़ जाना पड़ता था।

जन-युग—परिवार की वृद्धि के साथ साथ भोजन का सवाल जटिल होता गया; फलस्वरूप शक्ति की महत्ता भी बढ़ती गई। शक्ति ने माता को उसके प्रकृति-दत्त स्थान से च्युत कर दिया। भला सन्तान प्रसव करने वाली नारी इस दौड़ में कैसे टिक पाती? शक्ति, अर्थात पुरुषवर्ग ने नारी की श्रेष्ठता अस्वीकार कर

पितृयुग—जब पशुओं के गिरोह में नर नेतागीरी करता है तो उस युग का नरसिंह क्यों न करे—और जब शक्ति का महत्व बढ़ा हुआ हो; शक्ति ही योग्यता का पैमाना हो! बगैर सेनानायक के क्या युद्ध सुचारु-रूप से चल सकता है? अनुभवी पुरुष ने सेना-नायक का आसन ग्रहण किया। शक्ति बढ़ाने का काम तेजी से चल पड़ा—व्यक्ति में जो कुछ शक्ति थी वह तो थी ही; लकड़ी, पत्थर, हड्डी के हथियारों में तरक्की की गई और जनबल (जन संख्या) बढ़ाने के लिये भी उपाय सोच निकाले गये। पहले युद्ध-बन्दी, मारकर खा जाने की वस्तु थी; किन्तु अब उन्हें दास बनाकर उनसे काम लिया जाने लगा—

युद्ध में लाभकर स्त्रियों को भी लूटा जाने लगा; कि स्त्रियों से ही जन-संख्या की वृद्धि सम्भव हो सकती । लूट की स्त्रियों का बँटवारा किया गया, किन्तु अपने दल स्त्रियां बच रहीं; अस्तु उन्हें भी विवाह द्वारा पुरुषों के धीन कर दिया गया। नारी के स्वाभाविक-हकों की गर्दन ने र लगना शुरू हो गया—वर्ग-भेद की खाई खुदना शुरू हो ई, शासन-यन्त्र का पहला ढाँचा बना और समाज की इकाई व्यक्ति से कुटुम्ब हो गई। मजहब भी इसी युग की देन है—हवा, पानी, बिजली आदि से भयभीत होकर इनको प्रसन्न रखने का आयोजन किया गया। इसी प्रकार पितरों को भी प्रसन्न रखा जाने लगा। पिताओं के साथ मृत-माताएँ भी पुजने लगीं और वंश-वृद्धि की योग्यता के कारण जननेन्द्रिय भी पूज्य हो गई। ऐसे जमाने में पूजा के लिये और मृत-पितरों को प्रसन्न करने के लिये सब से उत्तम आयोजन मानव-रुधिर (मनुष्य-बलि) के सिवाय और क्या हो सकता था?

सामन्त युग—शक्ति की दौड़ में बूढ़ा पिता कैसे टिक सकता ? उसका स्थान युवक ने ग्रहण किया—क्योंकि शासन और के के चक्रों को तेजी से घुमाने की आवश्यकता थी; स्त्रियों दासों से ज्यादा से ज्यादा फ़ायदा उठाने की जरूरत थी। ही जरूरतों ने ताँबे की खोज निकाला; जिससे हथियारों क्रांतिकारी परिवर्तन और उन्नति हो गई। मृत-माताओं-पिताओं जगह देवी-देवताओं के राज्य (शासन) की कल्पना गई; और उसी राज्य का शासक आगे चल कर राजा-राम

निराश हो। किसान-मज़दूर कहते हैं [illegible] भी करेंगे, डाका डालेंगे! और वे [illegible] में [illegible] हैं इसका इन्तिज़ाम कर दिया गया है! यह अनाचार है; न्यायालय में न्याय का ढोंग रचके हम तुम्हें [illegible] सज़ा देंगे! तुम्हें हमारी दुनिया से निकाल कर अलग फेंक देंगे!

शासकवर्ग की शिकायत किसके पास की जाए! और जब अभी तक कहीं भी इन्साफ़ नहीं मिला तो कहीं भी कोई उम्मीद नहीं—और यह सब देख कर भी अगर हम न्याय की आशा रखें तो यह हमारी मूर्खता ही होगी।

आज मालिकवर्ग अधिकारोन्माद-वश, शासन की तलवार हाथ में लिये—अपने को संसार का गुरु अनुभव कर रहा है और इन्साफ़ के नाम पर इन्साफ़ की हत्या कर रहा है। प्राकृतिक-व्यवस्था में मालिकवर्ग कहीं भी देखने में नहीं आता। जब मालिकवर्ग ही प्रकृति (सत्य) विरोधी उपज है, तब उसके कारनामें अगर सत्य और न्याय का गला घोटें तो—इसमें कौन सा आश्चर्य है?

४

प्रकृति के विधान में

यह तो मानी हुई बात है कि जड़ में ही खाद-पानी देने से फल-फूल अच्छे पैदा होते हैं। लेकिन उसकी जड़ को सींचने से क्या लाभ जिसमें फल ही न लगते हों? वह तो और लम्बा-चौड़ा, सण्ड-मुसण्डा होकर अत्याचार और बलात्कार ही करेगा—दुःख ही बढ़ायेगा।

क—आधुनिक मानव और स्वच्छन्द मानव

आज हुआ यह है कि मनुष्य ने बुद्धि को शक्ति की सहायक बनाकर प्रकृति-विरोधी आचरण कर डाला है। परिणाम-स्वरूप प्रकृति बार-बार दण्ड देती आ रही है और दे रही है। फिर भी यह सब जानते हुए भी मनुष्य (प्रभुवर्ग) को अपनी अवास्तविक उन्नति से इतना लोभ-मोह हो गया है कि वह प्रकृति के नाशकारी-विधान से भी भयभीत नहीं होता। प्रकृति अनन्त-शक्ति-सम्पन्ना है—यदि मानवजाति की यही रफ्तार रही तो उसे और कौन कौन से भयंकर-दण्ड (दुष्परिणाम) भुगताना

पड़ेंगे और उसकी क्या दुर्गति होगी यह कहना असम्भव है !

प्रकृति गम्भीर स्वर से घोषणा करती चली आ रही है—मैं सत्य के सिवाय किसी को भी प्यार नहीं करती। मैं सत्य की रक्षा के लिये असत्य को बलि कर डालने में तनिक भी नहीं हिचकती। विश्वास न हो तो इतिहास देख लो—बेबिलोन, यूनान, रोम आदि को मैं कुचल चुकी हूँ; यूरोप की राजशाही को दफ़ना चुकी हूँ और तमाम शासन-सत्ता की हस्ती मिटा चुकी हूँ! जो जाति तलवार पर विश्वास करती है—जो उसके सहारे जीवित रहना चाहती है, वही शक्ति उसके लिये घातक सिद्ध होगी; वह जाति उसी के द्वारा मरेगी! संसार की गर्वित जातियों, तुम्हें अपनी शक्ति की पूर्णता पर चाहे जितना विश्वास हो, मैं उससे बड़ी विरोधी-शक्ति पैदा करके तुम्हें दण्डित करूँगी—मैं शक्ति और शासन का सदा विरोध करती रहूँगी; क्योंकि उनके द्वारा मेरा—सत्य का विरोध होता है !

किन्तु स्वच्छन्द-जीवन इन सब झंझटों और मुसीबतों से बरी है; क्योंकि वह जीवन प्रकृति के अनुकूल प्रकृति की ही एक वस्तु (देन) है। स्वच्छन्द-जीवन में प्रकृति का किंचित मात्र भी विरोध नहीं है; इसीलिये सारे प्राणियों का जीवन निर्द्वन्द, सुव्यवस्थित और सुखी है। किन्तु मनुष्य ने अपनी शक्ति और बुद्धि के घमण्ड से, स्वार्थ और उच्छृंखलता-वश प्रकृति की पहली देन—स्वच्छन्दता को ही ठुकरा दिया है; तब दूसरी देन—प्रकृति के पदार्थों से मनुष्य का वंचित रहना और मानव-समाज में नानाप्रकार के अपराधों का विकास होते रहना

स्वाभाविक ही है। ऐसी अवस्था में मनुष्य के महा-ज्ञान—जिसका कि आज अधिकांश में दुरूपयोग ही हो रहा है—का गुणगान करना निरर्थक है।

प्रारम्भ में मानव ठीक जमीन (मातृयुग) पर बढ़ रहा था। किन्तु ऊँची-नीची जमीन के बजाय अज्ञानवश उसे समतल समुद्र पर चलना ठीक जँचा। समुद्र में सबल ही सफ़र कर सकते थे; निर्बल पिछड़ने और डूब कर मरने लगे। सबलों को मृत-साथियों के शव के सहारे तैरने (सफ़र करने) में सुविधा रही। धीरे-धीरे सबलों द्वारा निर्बलों को डुबो कर मारना और उनके शव पर सवार होकर सफ़र करना सुविधा-जनक होने से आवश्यक हो गया। किन्तु इतना करते हुए भी मानव; समुद्र की मंजिल में सफल नहीं हो सका—तैरने के कठिन परिश्रम से, तूफ़ानों के संकट से, शव प्राप्त करने के लिये अमानुषिक कर्मों से, अनेकों समुद्री मुसीबतों से और डूब मरने से वह बच नहीं सका।

प्रकृति के नियमों का मूलाधार सत्य है—तदनुसार मानव-समाज का जमीन पर सफ़र करते रहना अर्थात् मातृयुग द्वारा विकास की ओर अग्रसर होते रहना सत्य (प्रकृति के नियमानुकूल) था। किन्तु मोह या अज्ञान-वश मानव; मानव-प्रकृति से प्रतिकूल समुद्र (ग़लत रास्ते) पर ही सफ़र करता रहता है—तो अनेकों संकट-पूर्ण कृत्रिम-परिस्थितियों (रुकावटों) का पैदा होते रहना, एक का हल करने पर दूसरी का उपस्थित होना और इस प्रकार सत्य के विरोध-स्वरूप निरन्तर दुष्परिणाम

भुगतते हुए विनाश की ओर बढ़ते रहना (ह्रासात्मक-परिवर्तन होते रहना) बिलकुल स्वाभाविक है। हर परिस्थिति का हल करने के उपरान्त मानव समझता है कि मैं समुद्र पर सैर करने में सफल हो गया हूँ किन्तु मानव-इतिहास के काल में यह सफलता क्षणिक रहती है; तुरन्त ही मानव को नयी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार सत्य का विरोध-कर्ता मानव (समाज) आज न सफल ही है न निरापद ! मानव सफल तभी हो सकेगा—जब वह समुद्र (कृत्रिम-पथ) पर सफ़र करने की सफलता का मोह छोड़कर, किसी भी निकटतम किनारे पर पहुँचे; प्रकृति के अनुरूप जमीन पर (मातृयुग) से सफ़र प्रारम्भ करेगा। गणित के सवाल में अगर शुरू में ही गलती हो गई हो तो उसे पुनः प्रारम्भ से ही हल करना होगा।

मिसाल के लिये हम किसी भी यान्त्रिक आविष्कार के लें—उसकी सफलता का मूल-कारण पदार्थों की प्रकृति के कुछ पहलुओं की जानकारी है। उपरान्त प्रयत्न, प्रयोग और निर्माण द्वारा उस यन्त्र का विकास होता रहता है। उसी प्रकार मानव और उसकी व्यवस्था का मूल-सत्य मातृयुग है—अर्थात् व्यक्ति के उन्मुक्त हुए बग़ैर; मानी नारी को उसके प्रकृतिदत्त स्थान पर आरूढ़ किये बग़ैर मानव-जीवन और मानव-व्यवस्था विकासोन्मुखी सफलता प्राप्त होना असम्भव है। प्राकृतिक-व्यवस्था स्वच्छन्दवाद का मूल स्वच्छन्दता को अपनाकर ही प्रयत्न, प्रयोग और निर्माण द्वारा मानव-जीवन और मानव-व्यवस्था वास्तविक विकास की ओर अग्रसर होना सम्भव है।

ख—नारी की प्रधानता

मानव-समाज की प्राथमिक व्यवस्था—मातृयुग प्राकृतिक तो है ही किन्तु इसके अलावा भी और कुछ मजबूत (प्राकृतिक) कारण हैं।

'केन्द्र से विस्तार या एक से अनेक' यह प्रकृति का एक साधारण नियम है। इस नियम के अनुसार व्यक्ति से समाज का निर्माण हुआ है। इसीलिये कहा जाता है कि 'समाज व्यक्ति के लिये है, न कि व्यक्ति समाज के लिये।'—अर्थात् समाज का एक साँचा बना कर उसीके अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति को ढालने का प्रयत्न करना प्रकृति के नियम से प्रतिकूल कार्य है। प्रकृति-विरोधी कार्य से सफलता की आशा तो की ही नहीं जा सकती, किन्तु उसका दुष्परिणाम भी हमें भुगतना पड़ता है। अस्तु; यदि हमें प्राकृतिक (वैज्ञानिक) व्यवस्था का निर्माण करना है तो यह जरूरी है कि पहले व्यक्ति का निर्माण किया जाय।—अर्थात् प्राकृतिक-व्यवस्था का मूल-आधार—स्वच्छन्दता व्यक्ति को दी जाय—व्यक्ति को उन्मुक्त (बन्धन-रहित) कर दिया जाय। व्यक्ति में नर और नारी दोनों ही सम्मिलित हैं; तब हमारी व्यवस्था का केन्द्र कौन हुआ—नर या नारी ? वास्तव में नारी ही मानव-समाज का केन्द्र-बिन्दु है। क्योंकि पदार्थ की प्रारम्भिक चेतन अवस्था में; अर्थात् वनस्पति और कम सेल के प्राणियों में प्रकृति को नर की आवश्यकता नहीं पड़ती—विस्तार का काम एक के ही जिम्मे है। वनस्पति में एक बीज से ही क्रम जारी रहता है, और प्राणियों में भी एक सेल का दो में विभाजन हो जाता है।

अन्ध-विश्वासों, रूढ़ियों और विचारों को दफ़ना क
स्वनिर्मित-स्वतन्त्रता की स्थापना की है—उन
बढ़ा दिया है।—इसी कारण वे अपनी शक्ति
कर पाये हैं; इसी कारण उन्होंने संसार पर
अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। लेकिन
शासन का साम्राज्य हो; वहाँ व्यक्ति गुलामी से बे
है?—वहाँ की नारी भी पुरुष-वर्ग के उपयोग
दासी है। केवल अन्तर इतना ही है कि यहाँ
विशेष दृष्टि है और नारी का उपयोग व्यक्ति (
करता है; एवं वहाँ उसलोक के बजाय इसलोक
रखते हुए नारी का उपयोग पूरे पुरुष-वर्ग के लिये कि
किया गया है। प्राचीन यूरोप पर नजर डालने
नारी की स्थिति काफ़ी स्पष्ट हो सकेगी।

"श्री गोवर्धनदास" ने नीति-विज्ञान में वर्णन कि
प्राचीन यूरोप में दो परिवारों के बीच बहुतसी लड़
कारण स्त्री-प्राप्ति ही रहता था।—इसमें उन्हें दोहरा फ़ा
प्रथम तो उनकी संख्या बढ़ती थी, दूसरे उनके द्वारा
बच्चों से उनका गौरव बढ़ता था। प्राचीन रोम के
स्त्रियों के गिरफ्तार किये जाने के अनेकों उदाहरण
वहाँ की जन-संख्या इसी प्रकार बढ़ी थी। पोप और
ने व्यभिचार के अड्डे बना लिये थे और सारे ईसाई ध
का जर्रा-जर्रा भ्रूण हत्या के रंग से पंकिल हो उठा था।
धर्म में दिखावे भर के लिये स्त्रियों की उपेक्षा के भा

एक तरफ़ सभ्य-समाज स्त्री को घृणित, पतित, घोरपाप के गह्वर में डुबाने वाली कहकर सम्बोधित करता था एवं दूसरी ओर उसके यौवन-सौन्दर्य का उपयोग धड़ल्ले से जारी था। उस समय व्यभिचार के सिवाय स्त्रियों का कोई मूल्य नहीं था—ऐसी अवस्था में स्त्रियों के अधिकार की बात तो सोची ही कैसे जा सकती है! पादरियों द्वारा विवाह के समय स्त्रियों से जो-जो प्रतिज्ञाएँ कराई जाती थीं, उनमें आजीवन पुरुष की आज्ञानुवर्तिनी होकर रहने की ही बात मुख्य थी। कन्या के पिता को काफ़ी धन देकर ही कोई युवक मनमानी शादी कर सकता था। इसके सिवाय तत्कालीन-विवाहिता स्त्रियों को निम्नकोटि का समझा जाता था; जिससे कई स्त्रियाँ विवाह को ठुकरा कर वेश्या बनने में अपना गौरव समझती थीं। प्राचीन-रोम के "पेट्रिया पोटेस्टास" में "पेटर फेमिलिया" (कुलपति का अधिकार) मशहूर है—उसकी आज्ञा के बिना पुत्र या पुत्री विवाह तक नहीं कर सकते थे।—उन पिताओं को प्राण-दण्ड देने तक का अधिकार था। विप्लव के पूर्व तक फ्रान्स में भी पुत्र-पुत्रियों के साथ गुलामों का सा व्यवहार किया जाता था।—पिता पुत्रियों को मठों में क़ैद कर सकता था—संतान को सांसारिक-सुखों से आजीवन वंचित रखने का पिता को अधिकार था। "श्री लेकी" के कथनानुसार, स्त्रियों के मठ वेश्यालयों के समान थे; जहाँ भ्रूण हत्याएँ बड़ी तादाद में की जाती थीं। प्रत्येक नव-विवाहिता पर एक या एक से अधिक दिनों तक जमीदार और खासकर पादरियों का हक़ रहता था। धार्मिक-पदाधिकारी तो इतने व्यभिचारी और कामुक

जब हमने अपने जीवन और व्यवस्था के कई पहलुओं में प्रकृति से दुश्मनी कर ली है तो क्या इस दिशा में हमारी प्रकृति से मित्रता रह सकती है ? कदापि नहीं, हमारा यह सम्बन्ध भी कृत्रिमता से भरा हुआ—बिगड़ा हुआ रूप है। हम देखते हैं कि अन्य प्राणियों का जीवन स्वच्छन्द होने से उनका यौन-सम्बन्ध कितना नियमित है ?—फिर भी जिस प्रकार आहार, निद्रा, शौच्य आदि कार्य प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत व्यवहृत होते हैं, उन नियमों की खोज कर वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की गई हैं; तथा उन नियमों को तोड़ने पर दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। उसी प्रकार, वही दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में भी रखना न्यायपूर्ण होगा और हमें इस दिशा में भी वैज्ञानिक-अनुसन्धानों——प्राकृतिक नियमों का आश्रय लेना होगा।

प्रकृति क्षण-क्षण परिवर्तनशील है और नवीन रूप धारण करती रहती है। मानव प्रकृति भी ऐसी ही है—वह भी परिवर्तन और नवीनता चाहती है; इस प्रवाह को रोकना भी निस्सन्देह प्रकृति का विरोध करना है। यदि मनुष्य अपने प्रथम प्रयोग में ही प्रकृति के नियमानुसार परिवर्तन और नवीनता प्राप्त करते हुए उत्तरोत्तर सफल होता जाता है, तब तो किसी को कुछ शिकायत नहीं रहती। लेकिन जब पहले प्रयोग में असफल होजाने पर मनुष्य दूसरा प्रयोग प्रारम्भ करता है—अर्थात् नर-नारी का सम्बन्ध टूट जाता है, तो उसका चिन्ह या प्रभाव पुरुष के शरीर पर नहीं पड़ता—मगर नारी को गर्भ धारण करना पड़ता है। नारी एक नयी जिम्मेदारी में फँस जाती है; सन्तान उत्पन्न होजाने के बाद उसके लालन

पालन का प्रश्न उपस्थित होता है और धीरे-धीरे नारी पर भार और जिम्मेदारियाँ बढ़ने लगती हैं। इसी समस्या का हल आज विवाह के रूप में हमारे सामने मौजूद है। इस हल द्वारा नारी और उसके बच्चे पुरुष के जिम्मे अवश्य कर दिये गये हैं; उनका आर्थिक भार पुरुष ही वहन करता है—मगर देखा जाय तो नारी का सब-कुछ रिश्वत के रूप में पुरुष को दे दिया गया है। आज स्त्री पुरुष की है, बच्चे पुरुष के हैं, सम्पत्ति पुरुष की है और इन सब पर शासन भी पुरुष का है। जो स्त्री और बच्चे पुरुष के सिर पर लाद दिये गये हैं—जो उसे पसन्द नहीं हैं; उसकी पूर्ति के लिये उसे अधिकार है कि वह प्रयोग के लिये दूसरा साथी पुनः खोज ले और असफल होते रहने पर पुनः पुनः नवीन खोज और प्रयोग करता रहे। इस प्रकार नारी की स्वच्छन्दता (स्वतन्त्रता) पूरी तरह से छीन ली गई है; नारी को स्वावलम्बी बनाने के बजाय निरावलम्बी बनाकर उसे पुरुष की मोहताज बना दी गई है और पुरुष को सर्वाधिकारी बनाकर उसकी उच्छृंखलता को बढ़ावा दिया गया है।

स्वच्छन्दवाद की मन्शा किसी को दबाने की नहीं, वह स्त्री पुरुष दोनों को प्रयोग के लिये समान अधिकार और अवसर प्रदान करना चाहता है।—लेकिन आज आर्थिक विषमता और पूँजीवाद के कारण नारी सरलता से स्वावलम्बी नहीं बन सकती। स्त्री के बच्चे तो दूर रहे, उसका खुद का उदर-पोषण भी आज जटिल है। अन्य प्राणियों के समान हमारे उत्पादन-क्षेत्र सामाजिक नहीं हैं कि ऐसी अवस्था में नारी और उसकी सन्तान अपनी

रूरतें आप पूरी कर सकें। आज सारे उत्पादन-क्षेत्रों पर पुरुषों एकाधिकार है।—इसलिये इस जमाने में सम्पत्ति वैयक्तिक हो ई सामाजिक, स्त्री या उसकी सन्तान—हरएक का उतना ही ; है, जितना कि एक पुरुष का! अस्तु, आज स्त्रियों का यह ा है कि सन्तान और सम्पत्ति पर नारी का हक़ है!

मौजूदा हालत में भी सम्पत्ति पर नारी का अधिकार होने से ष का कोई वास्तविक हक नहीं मारा जाता; दोनों की ही न्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। पुरुष श्रम द्वारा जब नारी और चों का आर्थिक भार उठा सकता है तो क्या अपना अकेले का नहीं उठा सकता? जरूर उठा सकता है! यदि हम सचमुच न्याय के लिये उत्सुक हैं, नारी को स्वतन्त्र करना चाहते हैं; नारी को वारिस बना देने में हमें कोई उज्र नहीं होना चाहिये। पूँजीपति अवश्य भयभीत हो उठेंगे; क्योंकि उनकी सम्पत्ति के हाथ में जाती है और स्त्री जो बेवकूफ (?) ठहरी—क्योंकि में कठोरता और निर्दयता नहीं होती!—यदि वह अपनी सहा-ूति बाँट दे तो?

घ—आर्थिक आन्दोलन

यह है केवल तत्कालीन आन्दोलन; इसके सिवाय हमें न्तर श्रम करना पड़ेगा—क्योंकि आज सारे श्रम-क्षेत्र पूँजीपतियों हाथ में हैं। श्रम तो हम हमेशा से करते ही आये हैं—और मी शक्ति से अधिक; मगर हमारे श्रम का पूरा फल नहीं पा ते?

परिस्थितियों का हल करते हुए ही मनुष्य आगे बढ़ता है।

अगर आज हम चारों ओर से गुलामी में बँधे हुए होने की परिस्थिति में नहीं होते, तो इस प्रकार के विचार करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। कदम उठाते ही हमें विरोधियों का सामना करना पड़ेगा; प्रत्येक मालिकवर्ग हमारा विरोध करेगा। मालिकवर्ग से सहानुभूति की आशा रखना व्यर्थ है; यह तो अपने नाजायज अधिकारों को छोड़ कर ही हमारा साथी और शुभचिन्तक साबित हो सकता है। हम बड़े पौधों के नीचे दबे हुए छोटे-अविकसित पौधों को वहाँ से हटा कर अलग व्यवस्थित रूप से रोपेंगे—हम हमारे समाज को अलग से "स्वच्छन्द" वातावरण में स्थापित कर स्वावलम्बी बनायेंगे! क्या हम इतने निकम्मे हैं कि चन्द पूँजीपतियों की गुलामी किये बगैर अपनी जिन्दगी खुद बसर नहीं कर सकते? हाँ, यह अवश्य है कि जमीन में अच्छी तरह से जड़ जमने में पूर्ण-स्वावलम्बी बनने में विलम्ब अवश्य लगेगा।

हम ग्रीष्म, वर्षा और शीत में हड्डी-तोड़ मेहनत करने वाले किसान हैं! हम प्रतिदिन सुबह से शाम तक अविराम-गति से लोहे और मशीनों से जूझ कर खून-पसीना बहाने वाले मजदूर हैं! और हम सारे कारखाने तथा शासनतन्त्र के व्यवस्थापक भी हैं! हम सब एक-दूसरे के सहयोग से पूँजीपतियों की दुनिया और उनके उत्पादनों का बहिष्कार करके; अपने श्रम, उत्पादन और विनिमय द्वारा अलग दुनिया बसायेंगे!

एक उदाहरण में यह कहा गया है कि मानव अनायास ही समुद्र में कूद पड़ा है और मालिकवर्ग दूसरों के सहारे समुद्र में सैर कर रहा है। उसमें आज यह हो गया है कि कुछ यन्त्र-रूपी

लट्ठे उनके हाथ लग गये हैं; जिन पर मालिक लोग बैठे सानन्द, बेमकसद सैर कर रहे हैं। बाकी लोग लट्ठों को थामे तथा एक दूसरे का कन्धा पकड़े, सहारा लिये हुए, हाथ-पैर हिला कर तैरते हुए उन लट्ठों को ढकेल रहे हैं।

अब हमें मालिकों को उनके लट्ठों पर ही बैठे छोड़, अलग ही कुछ लट्ठों के सहारे किनारे की ओर बढ़ चलना है। इसके लिये यह जरूरी है कि बड़े लट्ठों का कई और छोटे लट्ठों का कुछ लोग दल बाँध कर सहारा ले लें और पूरे परिश्रम से हाथ-पैर चलायें। इस प्रकार हम सब सहयोग द्वारा सामुहिक रूप से मुक्त होकर और स्वावलम्बी बन कर आसानी से किनारे पर पहुँच सकेंगे—अर्थात् हम मशीनों का बहिष्कार न करते हुए जो कुछ भी अधिक से अधिक सहारा ले सकते हैं, उतना उससे सामुहिक रूप से लेकर सहयोग और सहकारिता के साथ अपनी मंजिल तय करेंगे। किनारे; जमीन पर पहुँच जाने पर तो हमें सब वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी तब सफ़र पैदल, सायकल या बसेस से की जाय अथवा बैल गाड़ी से—यह तब की बात है ! आज हमें केवल दो बातों पर जम जाना है—पूँजीपतियों के उत्पादन का बहिष्कार और हमारे उत्पादन की वृद्धि।—इसके बाद समानता अपने आप चली आयगी। कोई भी सद्गुण; उच्च उद्देश्यों के कारण या शासन-शक्ति द्वारा लादने से मनुष्य में पैदा नहीं होते—ठीक वातावरण में वे स्वयं ही स्वाभाविक-रूप से पनप जाते हैं। मानवसमाज पर शासन द्वारा बलपूर्वक अच्छे भी सिद्धान्त न आज तक सफल हुए हैं और न सफल होने की सम्भावना ही है।

बुनियाद में ही खराबी होने के कारण वे अपने आप गल-कर गिर पड़ते हैं। अगर बुनियाद ही कमजोर है तो ऊपर की मंजिलों में दरार पड़ना या उनका ढुलक पड़ना स्वाभाविक ही है।

इसी प्रकार स्वधर्म-परायणता (नैतिकता) सीखने के लिये भी धर्मालयों या न्यायालयों में जाने की आवश्यकता नहीं है; यह तो हमारी अपनी ही वसीहत है—अपनी ही चीज है। यदि मनुष्य में मनुष्यत्व नहीं तो फिर किस में होगा? यदि हम मानव समाज के मूल को ही यथोचित स्थान में रोपकर उसकी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देंगे, तो मानव-समाज मानव-धर्म से लहलहा उठेगा ही और उसमें मानवता के फूल खिलेंगे ही। धर्म की व्याख्या तो मालिकवर्ग द्वारा की गयी है और उन्हें भी इसलिये करना पड़ी कि जब उनके द्वारा अपने गुलामों से अधिकाधिक सुख-सुविधा और लाभ पाने का प्रयत्न किया जाने लगा—गुलामों का अधिकाधिक उपयोग किया जाने लगा; और इससे वे गुलाम लोग आना-कानी करने लगे—जब वे अपने अभाव की हर तरह से पूर्ति करने लगे।

च— बौद्धिक-स्वच्छन्दता

लेकिन यह सब केवल सभा, समितियों, वक्तव्यों से ही नहीं होगा; लक्षस्थान तक पहुँचने के लिये हमें सतत-परिश्रम करने और निश्चित कार्यक्रम पर चलने की आवश्यकता है। हमें नया साहित्य निर्माण करना होगा और शिक्षा में आमूल परिवर्तन करना होगा। साहित्य में कल्पनाओं को छोड़कर वास्तविकता को स्थान देना होगा। जिस प्रकार रामायण, गीता, आल्हा-ऊदल

केन्द्र (गाँवों) को संभालना होगा, उसी मूल को प्राकृतिक-खुराक और सुविधा देने से हमारा देश-रूपी वृक्ष लहलहा उठेगा और फूलेगा फलेगा। आज का युग आर्थिकद्वन्द का युग है, सारे संसार में आर्थिकद्वन्द मचा हुआ है; फलतः प्रत्येक गाँवों का समानता के आधार पर आर्थिक संगठन जरूरी है। प्रत्येक गाँव की अपनी पेढ़ी (बैंक) होगी; जिसमें बालिग-नाबालिग सभी का समान हिस्सा रहेगा—अर्थात् पेढ़ी गाँव की सामुहिक सम्पत्ति के रूप में होगी। इस पेढ़ी द्वारा कृषि और अन्य उद्योग किये जायँगे, और गाँव का सारा कच्चा माल काम में लाने के लिये उचित प्रमाण में मशीनों का उपयोग किया जायगा। प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति आपस में वस्तुओं के विनिमय द्वारा करेगा और शहरों में माल भेजकर व्यापार भी करेगा। इस ढंग का एक पथ निश्चित करके चलने से ही हम उत्तरोत्तर उन्नति, सफलता और आजादी प्राप्त करते हुए लक्ष्यस्थान "स्वच्छन्दवाद" की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

इस प्रकार चालीस-करोड़ आबादी वाले भारत के सातलाख गाँवों में अगर हम पाँच-पाँचसौ मनुष्यों के जीवन-निर्वाह की व्यवस्था भी कर सके तो स्वराज्य जैसी वस्तु तो पहली ही मंजिल में रास्ते में पड़ी हुई मिल जायगी। यदि योग्य अर्थशास्त्रियों द्वारा इस तरह की योजना बनायी जाय तो प्रत्येक गाँव के दोसौ घरों में एक हजार व्यक्ति रह कर श्रम द्वारा अपने बौद्धिक-स्तर और जीवन-स्तर को आसानी से उच्च कर सकते हैं।—अगर इसके लिये देश के प्रभावशाली नेतागण देश से अपील करें कि प्रत्येक गाँव की सेवा में अपना जीवन अर्पण करने के लिये चार-पाँच लाख व्यक्ति

और इतनी पूँजी चाहिये; तो क्या देश सहर्ष प्रदान नहीं करेगा ?

हमारे देश को स्वतंत्र और स्वावलम्बी बनाने के मानी यह नहीं है कि पूँजीवादी शासन संभाल लें और वे अपने कारखानों का इतना उत्पादन बढ़ा लें कि अन्त में उन चीजों को बाहर खपाने की जरूरत पड़े। हम पाँच आने रोज के बदले रुपया रोज के गुलाम बन जायँ और वे करोड़पति की जगह अरबोंपति; हमारे भाग्य विधाता! क्या वे हमारी योजना में शरीक हो सकते हैं और अपने कारखाने जनता के सुपुर्द कर सकते हैं?—अथवा क्या वे आज इस बारे में कुछ घोषणा करने और कदम बढ़ाने को तैयार हैं? अगर वे यह सब करने को राजी हैं तो महात्मा गाँधी का विश्वास सत्य है; हम क्या संसार उनकी देवताओं के समान पूजा करेगा! और अगर वे राजी नहीं है तो वे देशप्रेमी नहीं पूँजी और सत्ता के प्रेमी हैं, तथा महात्माजी का विश्वास मिथ्या है!

किन्तु यह सब कार्य सफलता और विकास की ओर तब ही गतिमान हो सकेगा जबकि नारी को ससम्मान अध्यक्षता के आसन पर आरूढ़ कर दिया जायगा—जबकि नारी का महत्व स्वीकार कर लिया जायगा; तभी तलवार, बन्दूक के शासन का अन्त सम्भव हो सकेगा! अगर हम सचमुच ही देश और विश्व की ऐसी व्यवस्था के लिये लालायित हैं जिसमें एक परिवार के सदस्यों के समान मानव में भेदभाव रहित सहयोग हो और प्रत्येक व्यक्ति की समान रूप से गुजर-बशर होती रहे तो शीघ्रातिशीघ्र नारी को बन्धन मुक्त व उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर लेनी होगी।